INTERNATIONAL INSIGHTS
JOURNAL OF MULTIDISCIPLINARY RESEARCH

www.insightresearch.org.in
Multidisciplinary, Multi-Lingual, Peer Reviewed /Refereed
Open Access Journal
Volume-3, Issue 2, April-June 2026
ISSN : 3049-0847
IMPACT FACTOR : 7.725
https://doi.org/10.5281/zenodo.19579146

वैदिक काल में विधि की अवधारणा

*डॉ. शरदेन्दु कुमार त्रिपाठी
**रविकांत वर्मा
*सहायक आचार्य
प्राचीन इतिहास पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग,
सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु, सिद्धार्थ नगर, उत्तरप्रदेश
**शोधार्थी
प्राचीन इतिहास पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग,
सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु, सिद्धार्थ नगर, उत्तरप्रदेश

शोध सार (Abstract)

यह शोध वैदिक काल में विधि की अवधारणा, स्वरूप एवं उसके विकास का सम्यक् विश्लेषण प्रस्तुत करता है। वैदिक समाज में विधि किसी संहिताबद्ध नियमावली के रूप में नहीं, बल्कि 'ऋत' और 'धर्म' जैसे सिद्धांतों पर आधारित एक नैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था के रूप में विद्यमान थी। 'ऋत' को सार्वभौमिक एवं प्राकृतिक नियम के रूप में स्वीकार किया गया, जो सृष्टि और मानव आचरण दोनों को नियंत्रित करता था। उत्तर वैदिक काल में यही अवधारणा विकसित होकर 'धर्म' के रूप में प्रकट हुई, जिसमें सामाजिक, नैतिक और विधिक कर्तव्यों का समावेश था। इस अध्ययन में यह प्रतिपादित किया गया है कि वैदिक काल में विधि के प्रमुख स्रोत श्रुति (वेद) और परंपरागत आचार थे, जिनके आधार पर समाज में व्यवहारिक नियमों का निर्धारण होता था। विधि और नैतिकता के मध्य स्पष्ट भेद नहीं था, तथा सामाजिक स्वीकृति और धार्मिक आस्था ही इसके पालन के मुख्य आधार थे। राजा की भूमिका विधि-निर्माता के रूप में नहीं, बल्कि 'धर्म' के संरक्षक के रूप में थी, जबकि सभा एवं समिति जैसी संस्थाएँ न्यायिक कार्यों में सहायक थीं। शोध यह भी स्पष्ट करता है कि वैदिक विधि प्रणाली समाज-केंद्रित, लचीली एवं परंपरा-आधारित थी, जिसका उद्देश्य सामाजिक संतुलन, नैतिक अनुशासन एवं सामूहिक कल्याण सुनिश्चित करना था। इस प्रकार वैदिक काल की विधि अवधारणा ने न केवल प्राचीन भारतीय विधिक परंपरा की आधारशिला रखी, बल्कि आगे चलकर धर्मशास्त्रों एवं स्मृतियों के विकास को भी प्रभावित किया।

अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैदिक काल में विधि का स्वरूप आधुनिक विधि से भिन्न होते हुए भी एक सुसंगठित नैतिक-सामाजिक व्यवस्था के रूप में विद्यमान था, जिसने भारतीय विधि-चिंतन को गहराई से प्रभावित किया।

बीज शब्द - ऋत, धर्म, श्रुति, वेद, स्मृति, आचार, वैदिक समाज, विधि व्यवस्था, सामाजिक नियंत्रण |

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय इतिहास में वैदिक काल को सामाजिक, धार्मिक तथा वैचारिक विकास की आधारभूमि के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसी काल में मानव जीवन के संचालन हेतु जिन नियमों, मान्यताओं और आचार-संहिताओं का निर्माण हुआ, उन्होंने आगे चलकर भारतीय विधि-व्यवस्था की नींव रखी। वैदिक युग में विधि का स्वरूप आधुनिक अर्थों में संहिताबद्ध या औपचारिक नहीं था, बल्कि यह धर्म, परंपरा और सामाजिक स्वीकृति पर आधारित एक जीवंत व्यवस्था के रूप में विकसित हुआ। वैदिक समाज में 'ऋत' की अवधारणा को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था, जो प्राकृतिक एवं सार्वभौमिक व्यवस्था का प्रतीक थी। यही

'ऋत' मानव आचरण के लिए आदर्श मानक के रूप में कार्य करती थी। समय के साथ यह अवधारणा विकसित होकर 'धर्म' के रूप में अभिव्यक्त हुई, जिसने न केवल धार्मिक कर्तव्यों, बल्कि सामाजिक और विधिक दायित्वों को भी समाहित किया। इस प्रकार वैदिक काल में विधि का आधार नैतिकता, कर्तव्य और सामाजिक अनुशासन पर टिका हुआ था। इस काल में विधि के प्रमुख स्रोत वेद, परंपरागत आचार तथा सामाजिक संस्थाएँ थीं। सभा और समिति जैसी संस्थाएँ न्यायिक एवं प्रशासनिक कार्यों में सहायक थीं, जबकि राजा का दायित्व विधि के निर्माण से अधिक उसके संरक्षण और पालन को सुनिश्चित करना था। विधि का उद्देश्य दंड देना मात्र नहीं, बल्कि समाज में संतुलन, समरसता और नैतिक अनुशासन बनाए रखना था।

अतः यह अध्ययन वैदिक काल में विधि की अवधारणा, उसके स्वरूप, स्रोत तथा सामाजिक भूमिका का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि किस प्रकार यह प्रारंभिक विधिक ढाँचा आगे चलकर भारतीय विधि-परंपरा के विकास में सहायक सिद्ध हुआ।

विधि के मूल स्रोत -

वैदिक काल में विधि का स्वरूप किसी एक संहिताबद्ध ग्रंथ पर आधारित न होकर बहुआयामी एवं परंपरागत था। यह धर्म, नैतिकता, सामाजिक मान्यताओं तथा ब्रह्मांडीय व्यवस्था के सिद्धांतों से संचालित होता था। विधि के मूल स्रोतों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है:

श्रुति (वेद)

श्रुति, विशेषतः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, वैदिक विधि के सर्वोच्च एवं प्रामाणिक स्रोत माने जाते हैं। इनमें जीवन के विविध पक्षों से संबंधित आचार, कर्तव्य और सामाजिक नियमों का वर्णन मिलता है। 'ऋत' की अवधारणा का प्रतिपादन भी श्रुति में ही हुआ, जो सार्वभौमिक व्यवस्था और विधिक चेतना का आधार था।

स्मृति

स्मृति का आशय उन परंपराओं और व्यवहारिक नियमों से है, जो समाज में पीढ़ी दर पीढ़ी प्रचलित रहे। वैदिक काल में ये नियम मौखिक रूप में विद्यमान थे, परंतु उत्तरकाल में इन्हें धर्मसूत्रों और स्मृतियों में संहिताबद्ध किया गया। स्मृति ने विधि को व्यवहारिक और सामाजिक संदर्भ प्रदान किया।

आचार

आचार समाज के स्वीकृत आचरण और श्रेष्ठ व्यक्तियों के व्यवहार पर आधारित था। विभिन्न समुदायों में प्रचलित रीति-रिवाज विधि के रूप में मान्य थे। इस प्रकार आचार ने स्थानीय स्तर पर विधिक व्यवस्था को सुदृढ़ किया।

धर्म

धर्म वैदिक विधि का केंद्रीय तत्व था। यह केवल धार्मिक कर्मकांड तक सीमित न होकर सामाजिक, नैतिक और विधिक कर्तव्यों का समुच्चय था। धर्म के माध्यम से व्यक्ति के आचरण, कर्तव्य और अधिकारों का निर्धारण होता था।

ऋत

ऋत वैदिक विधि का दार्शनिक एवं आधारभूत स्रोत था। यह ब्रह्मांडीय व्यवस्था का प्रतीक था, जो समस्त सृष्टि और मानव आचरण को नियंत्रित करता था। विधि का मूल उद्देश्य 'ऋत' के अनुरूप सामाजिक संतुलन बनाए रखना था।

सभा एवं समिति

वैदिक काल की सभा और समिति जैसी संस्थाएँ विधि के व्यावहारिक अनुप्रयोग में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं। ये संस्थाएँ न्यायिक कार्यों का निर्वहन करती थीं तथा सामाजिक विवादों का समाधान करती थीं।

राजसत्ता (राजा की भूमिका)

राजा विधि का निर्माता नहीं, बल्कि उसका संरक्षक था। उसका प्रमुख कर्तव्य 'धर्म' की रक्षा करना तथा न्याय प्रदान करना था। दंड व्यवस्था के माध्यम से वह विधि के पालन को सुनिश्चित करता था।

विधि का स्वरूप

वैदिक काल में विधि का स्वरूप आधुनिक विधिक संरचनाओं की भाँति संस्थागत, संहिताबद्ध एवं राज्य-नियंत्रित नहीं था, बल्कि यह एक **धर्माधारित, समाज-नियंत्रित तथा नैतिक-सांस्कृतिक व्यवस्था** के रूप में विकसित हुआ था। इस विधि को समझने के लिए इसे केवल नियमों के रूप में नहीं, बल्कि एक व्यापक **नॉर्मेटिव ऑर्डर (normative order)** के रूप में देखना आवश्यक है, जिसमें ब्रह्मांडीय, सामाजिक और व्यक्तिगत स्तर पर एकरूपता विद्यमान थी।

ब्रह्मांडीय आधार: ऋत से विधि की उत्पत्ति

वैदिक विधि का स्वरूप 'ऋत' की अवधारणा से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ था। 'ऋत' केवल प्राकृतिक नियम नहीं था, बल्कि यह एक ऐसा सार्वभौमिक सिद्धांत था, जो सत्य, व्यवस्था और न्याय का मूल आधार था। विधि का उद्देश्य इसी ब्रह्मांडीय संतुलन को सामाजिक जीवन में प्रतिबिंबित करना था। अतः वैदिक विधि को केवल सामाजिक अनुशासन के रूप में नहीं, बल्कि **कॉस्मिक ऑर्डर के सामाजिक रूपांतरण** के रूप में समझा जाना चाहिए।

धर्म के रूप में विधि का सामाजिक रूपांतरण

उत्तर वैदिक काल में 'ऋत' की अमूर्त अवधारणा 'धर्म' के रूप में अधिक व्यावहारिक और सामाजिक स्वरूप ग्रहण करती है। 'धर्म' ने विधि को एक स्पष्ट दिशा प्रदान की, जिसमें आचार, कर्तव्य और सामाजिक दायित्व सम्मिलित थे। इस स्तर पर विधि का स्वरूप **धार्मिक-नैतिक कर्तव्यों की प्रणाली** के रूप में उभरता है, न कि अधिकार-आधारित विधिक ढाँचे के रूप में।

विधि और नैतिकता का अभेद

वैदिक विधि की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि इसमें विधि और नैतिकता के बीच कोई स्पष्ट विभाजन नहीं था। विधिक नियमों का उल्लंघन केवल सामाजिक अपराध नहीं, बल्कि नैतिक और धार्मिक विचलन भी माना जाता था। इस कारण विधि का पालन बाह्य दंड की अपेक्षा आंतरिक अनुशासन द्वारा अधिक सुनिश्चित होता था।

असंहिताबद्ध एवं लचीला स्वरूप

वैदिक काल में विधि का कोई औपचारिक संहिताकरण नहीं हुआ था। यह मुख्यतः श्रुति, स्मृति और आचार के माध्यम से संचालित होती थी। इस असंहिताबद्ध स्वरूप के कारण विधि में पर्याप्त लचीलापन था, जिससे यह विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को ढाल सकती थी। यह लचीलापन वैदिक विधि की शक्ति भी था और उसकी सीमा भी।

समाज-केंद्रित विधि व्यवस्था

वैदिक विधि का संचालन राज्य के बजाय समाज द्वारा होता था। सभा, समिति और कुल जैसे सामाजिक निकाय न्यायिक कार्यों में सक्रिय भूमिका निभाते थे। इस प्रकार विधि का स्वरूप **कम्युनिटेरियन (communitarian)** था, जिसमें सामूहिक स्वीकृति विधिक वैधता का आधार थी।

कर्तव्य-प्रधानता बनाम अधिकार-चेतना

आधुनिक विधि जहाँ अधिकारों पर केंद्रित है, वहीं वैदिक विधि में कर्तव्यों (duty-based order) को प्राथमिकता दी गई। व्यक्ति के अधिकार स्वतः उसके कर्तव्यों के पालन से उत्पन्न माने जाते थे। इस दृष्टि से वैदिक विधि एक **duty-centric legal order** का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

राजसत्ता की सीमित एवं अधीनस्थ भूमिका

राजा वैदिक विधि का स्रोत नहीं था, बल्कि वह 'धर्म' के अधीन कार्य करता था। उसकी भूमिका विधि के प्रवर्तन और संरक्षण तक सीमित थी। यह तथ्य दर्शाता है कि वैदिक विधि में **rule of law** का प्रारंभिक रूप विद्यमान था, जहाँ शासक भी विधि से ऊपर नहीं था। वैदिक काल में विधि का स्वरूप एक बहुस्तरीय व्यवस्था के रूप में विकसित हुआ, जिसमें ब्रह्मांडीय सिद्धांत (ऋत), सामाजिक मानदंड (आचार) और नैतिक कर्तव्य (धर्म) परस्पर जुड़े हुए थे। यह विधि न तो पूर्णतः धार्मिक थी और न ही केवल

सामाजिक नियंत्रण का साधन, बल्कि यह एक समन्वित प्रणाली थी, जिसने भारतीय विधिक चिंतन को दीर्घकालिक आधार प्रदान किया।

विधि के प्रवर्तन के साधन -

वैदिक काल में विधि के प्रवर्तन की व्यवस्था को समझने के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उस समय कोई संगठित पुलिस तंत्र, विधिक नौकरशाही या संहिताबद्ध दंड संहिता उपलब्ध नहीं थी। इसके बावजूद विधि का पालन व्यापक रूप से सुनिश्चित होता था। इसका कारण यह था कि विधि का आधार बाह्य बल नहीं, बल्कि **धार्मिक आस्था, सामाजिक स्वीकृति और आंतरिक नैतिक अनुशासन** था। इस प्रकार वैदिक विधि-प्रवर्तन एक बहुस्तरीय प्रक्रिया थी, जिसमें औपचारिक और अनौपचारिक दोनों तत्त्व सक्रिय थे।

धर्म के माध्यम से प्रवर्तन: आंतरिक नियंत्रण की व्यवस्था

वैदिक समाज में 'धर्म' केवल आचरण का निर्देश नहीं, बल्कि जीवन-व्यवस्था का नियामक सिद्धांत था। धर्म के उल्लंघन को दैवी व्यवस्था के विरुद्ध माना जाता था, जिससे व्यक्ति के भीतर स्वाभाविक भय और अनुशासन उत्पन्न होता था। धर्म के साथ जुड़ी पाप-पुण्य, कर्मफल और पुनर्जन्म की अवधारणाएँ विधि के पालन को एक आध्यात्मिक दायित्व में परिवर्तित कर देती थीं। इस प्रकार विधि का प्रवर्तन बाहरी दंड की अपेक्षा अधिक **आंतरिक नैतिक चेतना** पर आधारित था। यह व्यवस्था आधुनिक विधि के बाह्य नियंत्रण की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और प्रभावी मानी जा सकती है।

सामाजिक नियंत्रण और लोक-मत की भूमिका

वैदिक समाज मूलतः सामुदायिक संरचना पर आधारित था, जहाँ व्यक्ति की पहचान उसके परिवार, कुल और जनसमूह से जुड़ी होती थी। ऐसे में सामाजिक स्वीकृति और प्रतिष्ठा अत्यंत महत्वपूर्ण थी। यदि कोई व्यक्ति सामाजिक मानदंडों का उल्लंघन करता था, तो उसे लोक-निंदा, सामाजिक बहिष्कार या प्रतिष्ठा-हानि का सामना करना पड़ता था। ये दंड औपचारिक न होते हुए भी अत्यंत प्रभावी थे। इस प्रकार समाज स्वयं विधि के प्रवर्तन का सक्रिय साधन था, जो किसी भी औपचारिक संस्था से कम प्रभावशाली नहीं था।

सभा और समिति: सामूहिक न्याय के संस्थागत रूप

सभा और समिति वैदिक काल की प्रमुख सामाजिक-राजनीतिक संस्थाएँ थीं, जिनका कार्य केवल परामर्श तक सीमित नहीं था, बल्कि वे न्यायिक दायित्व भी निभाती थीं। इन संस्थाओं में विवादों का निपटारा सामूहिक विचार-विमर्श और सहमति के आधार पर किया जाता था। निर्णयों में निष्पक्षता और सामाजिक मान्यता का विशेष ध्यान रखा जाता था। इस प्रकार सभा और समिति विधि के प्रवर्तन का एक प्रारंभिक संस्थागत ढाँचा प्रस्तुत करती हैं, जो राज्य के औपचारिक न्यायालयों का पूर्वरूप माना जा सकता है।

राजसत्ता और दंड व्यवस्था: सीमित परंतु आवश्यक हस्तक्षेप

वैदिक काल में राजा की भूमिका विधि के निर्माता की नहीं, बल्कि उसके संरक्षक की थी। वह 'धर्म' के अधीन रहकर शासन करता था और उसका प्रमुख दायित्व समाज में व्यवस्था बनाए रखना था। दंड व्यवस्था विधि-प्रवर्तन का एक आवश्यक साधन थी, परंतु इसका प्रयोग संयमित और विवेकपूर्ण ढंग से किया जाता था।

दंड का उद्देश्य केवल अपराध का प्रतिकार नहीं, बल्कि सामाजिक संतुलन और अनुशासन की पुनर्स्थापना था। इससे स्पष्ट होता है कि राजसत्ता विधि के प्रवर्तन में सहायक थी, परंतु उसका स्वरूप निरंकुश नहीं था।

आचार और परंपरा: सांस्कृतिक निरंतरता के माध्यम से प्रवर्तन

आचार और परंपराएँ वैदिक समाज में विधिक मान्यता प्राप्त थीं। ये पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचारित होती थीं और समाज के व्यवहार को नियंत्रित करती थीं। व्यक्ति इन परंपराओं का पालन केवल बाध्यता के कारण नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक उत्तरदायित्व के रूप में करता था। इस प्रकार आचार स्वयं विधि के प्रवर्तन का एक स्थायी और स्वाभाविक माध्यम था।

आत्म-नियंत्रण और स्वधर्म की अवधारणा

वैदिक विधि-व्यवस्था की सबसे विशिष्ट विशेषता यह थी कि इसमें व्यक्ति के भीतर आत्म-नियंत्रण की भावना विकसित की गई। 'स्वधर्म' का पालन व्यक्ति का नैतिक कर्तव्य माना जाता था। यह आंतरिक अनुशासन विधि के पालन को स्वाभाविक बना देता था, जिससे बाहरी दंड की आवश्यकता न्यूनतम रह जाती थी। इस दृष्टि से वैदिक विधि एक **self-regulating system** के रूप में कार्य करती थी। वैदिक काल में विधि के प्रवर्तन के साधन बहुआयामी और परस्पर पूरक थे। धर्म के माध्यम से आंतरिक अनुशासन, समाज के माध्यम से बाह्य नियंत्रण, सभा-समिति के माध्यम से सामूहिक न्याय और राजसत्ता के माध्यम से दंड व्यवस्था—इन सभी ने मिलकर एक संतुलित विधि-प्रवर्तन तंत्र का निर्माण किया। यह प्रणाली दर्शाती है कि विधि का प्रभाव केवल संस्थागत शक्ति पर निर्भर नहीं होता, बल्कि वह सामाजिक स्वीकृति, नैतिक विश्वास और सांस्कृतिक निरंतरता से भी संचालित हो सकता है। वैदिक विधि-प्रवर्तन का यही समन्वित स्वरूप उसे विशिष्ट बनाता है और भारतीय विधिक परंपरा के विकास में उसका स्थायी योगदान स्थापित करता है।

विधि और समाज का संबंध -

वैदिक काल में विधि और समाज के संबंध को पृथक इकाइयों के रूप में नहीं, बल्कि एक ही संरचना के परस्पर जुड़े अंगों के रूप में समझा जाना चाहिए। विधि न तो राज्य द्वारा निर्मित कोई बाह्य नियंत्रण मात्र थी और न ही केवल दंड-व्यवस्था का उपकरण, बल्कि यह समाज के भीतर विकसित **आचार, धर्म और सामूहिक चेतना** की अभिव्यक्ति थी। इस दृष्टि से वैदिक विधि मूलतः समाज-नियंत्रित और समाज-निरूपित व्यवस्था थी।

समाज से उद्भूत विधि

वैदिक काल में विधि का निर्माण किसी विधायिका या शासकीय संस्था द्वारा नहीं किया जाता था। यह समाज में प्रचलित आचार, परंपराओं और मान्यताओं से विकसित होती थी। समाज के स्वीकृत व्यवहार ही विधि का रूप ग्रहण करते थे। इस प्रकार विधि का स्रोत स्वयं समाज था, जिससे उसकी वैधता और स्वीकार्यता सुनिश्चित होती थी।

धर्म के माध्यम से सामाजिक संगठन

'धर्म' वैदिक समाज और विधि के बीच सेतु का कार्य करता था। धर्म ने सामाजिक संरचना को व्यवस्थित किया और व्यक्ति के कर्तव्यों को निर्धारित किया। वर्ण और आश्रम व्यवस्था के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति के लिए आचरण-मानदंड निश्चित किए गए, जो विधिक नियमों के रूप में कार्य करते थे। इस प्रकार विधि सामाजिक संगठन का आधार बनी।

सामाजिक स्वीकृति और विधिक वैधता

वैदिक विधि की वैधता किसी औपचारिक अधिनियम या आदेश से नहीं, बल्कि सामाजिक स्वीकृति से प्राप्त होती थी। यदि कोई नियम समाज द्वारा स्वीकार्य नहीं होता, तो वह विधि के रूप में प्रभावी नहीं हो पाता। इससे स्पष्ट होता है कि विधि की शक्ति समाज की सामूहिक चेतना में निहित थी।

विधि के माध्यम से सामाजिक नियंत्रण

विधि समाज में अनुशासन और संतुलन बनाए रखने का प्रमुख साधन थी। यह व्यक्ति के आचरण को नियंत्रित करती थी और सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में सहायक होती थी। सामाजिक मानदंडों के उल्लंघन पर लोक-निंदा, बहिष्कार और दंड जैसे उपाय अपनाए जाते थे।

कर्तव्य-प्रधान सामाजिक संरचना

वैदिक समाज में विधि का केंद्र अधिकार नहीं, बल्कि कर्तव्य थे। प्रत्येक व्यक्ति को उसके सामाजिक स्थान के अनुसार कर्तव्यों का पालन करना अपेक्षित था। इन कर्तव्यों का पालन ही सामाजिक व्यवस्था और विधिक संतुलन को बनाए रखता था। इस प्रकार विधि और समाज दोनों कर्तव्य-प्रधान ढाँचे में एक-दूसरे के पूरक थे।

सामूहिकता और विधिक प्रक्रिया

सभा, समिति और अन्य सामाजिक संस्थाएँ विधिक प्रक्रिया का अंग थीं। विवादों का समाधान व्यक्तिगत स्तर पर नहीं, बल्कि सामूहिक निर्णय के माध्यम से किया जाता था। इससे विधि में पारदर्शिता और सामाजिक सहभागिता बनी रहती थी।

परिवर्तनशीलता और अनुकूलन

चूँकि विधि समाज से उत्पन्न होती थी, इसलिए वह समय, स्थान और परिस्थितियों के अनुसार बदलती भी थी। यह लचीलापन विधि को जीवंत बनाए रखता था और उसे सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने में सहायक था। वैदिक काल में विधि और समाज का संबंध अत्यंत घनिष्ठ और परस्पर निर्भर था। विधि समाज की संरचना, मान्यताओं और मूल्यों की अभिव्यक्ति थी, जबकि समाज विधि के माध्यम से स्वयं को नियंत्रित और व्यवस्थित करता था। इस प्रकार वैदिक विधि को एक स्वतंत्र संस्था के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन की आंतरिक व्यवस्था के रूप में समझना अधिक उपयुक्त है। यही अंतर्संबंध भारतीय विधिक परंपरा की विशिष्टता को स्पष्ट करता है।

निष्कर्ष

वैदिक काल में विधि की अवधारणा, स्वरूप, स्रोत, प्रवर्तन तथा समाज के साथ उसके संबंध का समग्र अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि उस समय की विधि आधुनिक अर्थों में राज्य-निर्मित या संहिताबद्ध व्यवस्था नहीं थी, बल्कि यह एक व्यापक **नैतिक-सामाजिक और धार्मिक संरचना** के रूप में विद्यमान थी। विधि का आधार 'ऋत' जैसे ब्रह्मांडीय सिद्धांत में निहित था, जो आगे चलकर 'धर्म' के रूप में सामाजिक जीवन का नियामक बना। इस प्रकार विधि केवल नियमों का समूह नहीं, बल्कि जीवन के समग्र संचालन का तंत्र थी। विधि के स्रोतों के रूप में श्रुति, स्मृति, आचार और धर्म ने एक ऐसी बहुस्तरीय व्यवस्था का निर्माण किया, जिसमें सामाजिक स्वीकृति और परंपरा की महत्वपूर्ण भूमिका थी। विधि का प्रवर्तन बाह्य बल या दंड के माध्यम से सीमित रूप में होता था, जबकि उसका वास्तविक आधार आंतरिक अनुशासन, धार्मिक विश्वास और सामाजिक नियंत्रण था। सभा, समिति तथा राजसत्ता ने इस व्यवस्था को सहारा दिया, परंतु विधि का मूल नियंत्रण समाज के भीतर ही निहित रहा। विधि और समाज के संबंध का विश्लेषण यह दर्शाता है कि दोनों परस्पर पूरक थे। विधि समाज से उत्पन्न होती थी और समाज को ही नियंत्रित करती थी। यह एक कर्तव्य-प्रधान व्यवस्था थी, जिसमें व्यक्तिगत अधिकारों की अपेक्षा सामाजिक दायित्वों को प्राथमिकता दी गई। इस कारण विधि का उद्देश्य केवल न्याय प्रदान करना नहीं, बल्कि सामाजिक संतुलन, समरसता और नैतिक अनुशासन को बनाए रखना था।

अतः कहा जा सकता है कि वैदिक काल की विधि एक समन्वित, लचीली और समाज-केंद्रित व्यवस्था थी, जिसने भारतीय विधिक परंपरा की आधारशिला रखी। यद्यपि यह आधुनिक विधि से भिन्न थी, फिर भी इसके मूल सिद्धांत आज भी भारतीय विधि-चिंतन में अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ऋग्वेद
2. यजुर्वेद
3. सामवेद
4. अथर्ववेद
5. आपस्तंब धर्मसूत्र
6. गौतम धर्मसूत्र
7. P. V. Kane, *History of Dharmasastra*, बंबई: भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट।
8. R. S. Sharma, *Ancient India*, नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
9. A. L. Basham, *The Wonder That Was India*, लंदन: सिडविक एंड जैक्सन।
10. Upendra Thakur, *Some Aspects of Ancient Indian Law*, पटना: एशियन पब्लिशिंग हाउस।
11. U. N. Ghoshal, *A History of Indian Political Ideas*, कोलकाता: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।